विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

मुद्रालेखों पर अंकित प्राचीन इतिहास
राजवीर शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4

भारत का वैचारिक एवं धार्मिक अभ्युदय
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 5-6

भारतीय वाड्मय में अश्व का महत्व
रंजन कुमार श्रीवास्तव

पृष्ठ क्र. 7

गीता ही कर्म, कर्तव्य और ज्ञान
राजेश्वर त्रिवेदी

मुद्रालेखों पर अंकित प्राचीन इतिहास

राजवीर शर्मा

पुरातत्त्व–विषयक अभिलेखों में मुद्रालेखों का अपना विशेष स्थान है। मुद्राएँ भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण धरोहर हैं। ये मुद्राएँ लौह, रजत, ताम्र, स्वर्ण और मृत्तिका आदि पर निर्मित विभिन्न रूपों में उपलब्ध हुई हैं। समय–समय पर विभिन्न स्थानों से प्राप्त और भारत के अनेकानेक संग्रहालयों में सुरक्षित इन मुद्राओं पर खुदे हुए लेखों के अध्ययन से इतिहासकारों ने प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति और सामाजिक जीवन के सर्वथा अज्ञात एवं विलुप्त तथ्यों का पता लगाया है। 300 ई. से पहले के लगभग पाँच सौ वर्षों के भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में मुद्राएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। मुद्रालेखों का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि साहित्यिक ग्रन्थों के अन्तर्वाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतिहास की जो मान्यताएँ स्थापित हुई हैं उनकी सम्पुष्टि के लिए मुद्रालेख महत्वपूर्ण प्रमाण सामग्री सिद्ध हुई हैं। इन मुद्राओं पर सम–सामयिक शासक का नाम, शासनकाल, उसकी उपाधि, विजय, धार्मिक मान्यताएँ और नीतियों का उल्लेख हुआ मिलता है। कुछ मुद्राओं में अंकित प्रतीकात्मक चिह्नों द्वारा सम्बद्ध शासक की अभिरुचियों का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए सम्राट् समुद्रगुप्त की मुद्राओं में अंकित वीणा से उसकी संगीत प्रियता की जानकारी प्राप्त होती है। कुछ मुद्राओं पर विजेता और विजित, दोनों पक्षों का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए जोगलथम्बी भाण्ड से प्राप्त मुद्राओं में विजेता गौमतीपुत्र सातकर्णि और विजित राजा नहपान दोनों का उल्लेख हुआ है। भारतीय संस्कृति के आदान–प्रदान में यूनानी शासकों का जो योगदान रहा है, उसके प्रामाणिक इतिहास की जानकारी के लिए मुद्रालेखों का बड़ा महत्व सिद्ध हुआ है।

भारत में मुद्रालेखों की उपलब्धि का इतिहास दियोदोतस, यूथिडिमस, दिगित और अपलदत्तस (मिलिन्द) आदि प्राचीन शासकों के समय से आरम्भ होता है। उन्हीं के अनुकरण पर कुषाण राजाओं ने अपनी मुद्राओं पर लेख उत्कीर्णित कराये। उन्होंने चाँदी की जगह सोने के सिक्कों का प्रचलन किया। कनिष्क के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपनी मुद्राओं पर शिव, अरदोक्षा, सूर्य और बुद्ध की आकृतियों को अंकित कर हिन्दू, यूनानी, ईरानी और बौद्ध धर्मों के प्रति अपनी रामान निष्ठा का परिचय दिया। क्षत्रपों, सातवाहनों और गुप्तों की उपलब्ध कुछ मुद्राओं में युगल नामों का उल्लेख हुआ है। शासक राजा के साथ उसकी महारानी या उत्तराधिकारी युवराज का नाम भी उल्लिखित है। उनके द्वारा तत्कालीन राज्य की सीमाओं, सुदूर द्वीपान्तरों में राजनीतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कुषाणों के बाद गुप्तों ने भी अपने स्वर्ण–निर्मित सिक्कों पर संस्कृत में छन्दोबद्ध लेख उत्कीर्ण कराये। उनके सिक्कों पर अंकित परम भागवत उपाधि से ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। धार्मिकता के अतिरिक्त उनकी उपाधियों और विजयों का भी उल्लेख हुआ है। मुद्राएँ अपने युग की सम्पन्नता और असम्पन्नता की द्योतक भी सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए आरम्भिक गुप्त राजाओं की स्वर्णमुद्रा उस युग की समृद्धि का परिचय देती हैंय किन्तु स्कन्दगुप्त की धातु–मुद्राएँ देश की विपन्नता तथा उन्नति की सूचना देती हैं। गुप्तों के बाद मध्ययुगीन हूणों के मुद्रालेखों से उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध अभिरुचि का पता चलता है। हूण राजा मिहिर के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि वह शैव मतावलम्बी था। इस प्रकार गोविन्दचन्ददेव, गगदेव, परिमर्दिदेव और पृथ्वीराजदेव की मुद्राओं के लेख मध्ययुगीन इतिहास की मूल्यवान सामग्री सिद्ध हुई हैं। उपलब्ध मुद्राओं से तत्कालीन भाषा, साहित्य और कला पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उनसे विभिन्न युगों में प्रचलित प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मौर्यों, सातवाहनों और कुषाणों के मुद्रालेखों से जिस प्रकार जन–भाषा प्राकृत की लोकप्रियता

विदित होती है। ठीक उसी प्रकार गुप्तों के मुद्रालेखों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा तत्कालीन समाज की संस्कृत प्रियता का द्योतन करती है। गुप्तों की चित्रयुक्त मुद्राओं से उनकी कलाप्रियता का भी परिचय प्राप्त होता है। लिपि–विकास की दृष्टि से मुद्राओं का विशेष महत्व सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिए उत्तर–पश्चिम भारत के यूथिडिमस, दिनित तथा मिलिन्द आदि यूनानी शासकों के मुद्रालेखों में जहाँ खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है, वहाँ पश्चिम भारत से प्राप्त क्षत्रप, शक शासकों तथा संघ–शासकों के मुद्रालेखों में ब्राह्मी लिपि का उपयोग हुआ है और गुप्त शासकों की मुद्राओं में गुप्त लिपि तथा मध्ययुगीन शासकों की मुद्राओं में नागरी लिपि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के गणतंत्रों की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन में उनका बड़ा महत्व है। किन्तु मुद्रालेखों के अध्ययन तथा आधार पर सही ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए रोमक इतिहासकार प्लिनी की भारत संबंधी भ्रामक स्थापनाएँ मुद्रालेखों के मनगढ़न्त अध्ययन पर ही आधारित थीं। मुहरें भी प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री हैं। ये मुहरें विभिन्न रूपों तथा अभिप्रायों से निर्मित की गयी प्रतीत होती हैं। वे मृतिका, ताम्र, काँस्य, प्रस्तर तथा हाथीदाँत आदि विभिन्न उपकरणों से निर्मित हुई मिली हैं। उनमें कुछ तो मन्दिरों तथा बिहारों से, कुछ राजकीय कार्यकलापों से, कुछ कार्यालयीय कार्यों से और कुछ व्यक्तिगत कार्यों से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार की अनेक मुहरें प्रयाग के निकट भीटा तथा नालन्दा, असीरगढ़, सोनपत, वैशाली और राजघाट आदि अनेक स्थानों की खुदाइयों से प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार की मुहरों का सर्वाधिक प्राचीन रूप प्रागैतिहासिक स्थानों हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो तथा लोथल (अहमदाबाद) से प्राप्त हुआ है। उनमें चित्रमय लिपि अंकित है, जिसका अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है। उन पर गैंडा, हाथी, शेर, बैल और भैंसा आदि विभिन्न पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं। ये चित्रमय मुहरें भारतीय कला के प्रथम जीवित प्रमाण हैं, जिनके प्रभाव की छाप दजला–फरात, दक्षिणी ईरान आदि देशों की कलाकृतियों पर स्पष्ट है। इन मुहरों पर अंकित पशुओं की आकृतियों से तत्कालीन समाज के पशुपालन एवं पशुप्रेम का पता चलता है। ऐतिहासिक युग की भीटा से प्राप्त मुहरों पर शिवलिंग, त्रिशूल और वृषभ की आकृतियाँ अंकित हैं। नालन्दा की मृतिका मुहरों पर बुद्ध की प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार गुप्तों की मुद्राओं में गरुड, पालराजा देवपाल की मुहर में बुद्ध की आकृति अंकित है। स्तूपों या स्तम्भ–लेखों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। स्तूपों के चारों ओर वेदिकाओं का निर्माण प्रायः साँची, बोधगया, भरहुत और अमरावती आदि सभी स्थानों में देखने को मिलता है। प्रायः सभी स्तूप–वेदिकाओं पर लेख खुदे हुए हैं। उनमें उसके दानदाता का उल्लेख किया गया है। साँची की वेदिका पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख खुदा हुआ है। भरहुत की वेदिका पर शुंगयुगीन लेख में जातक कथाओं के आधार पर मानुषी बुद्ध तथा नृत्यरत अप्सराओं की आकृतियाँ अंकित हैं। बोधगया की वेदिका पर भी लेख अंकित हैं, जो बाद का प्रतीत होता है। इसी प्रकार अमरावती और साँची की वेदिकाओं पर सातवाहन शासकों के लेख खुदे हुए हैं। इसी प्रकार ये अभिलेख अतीतकालीन भारत के बौद्धिक, धार्मिक, प्रशासनिक और व्यापारिक स्थितियों पर प्रकाश डालने के साथ–साथ अपने–अपने युगों के नगरों, गाँवों और नागरिक तथा ग्रामीण जीवन के रीति–रिवाजों तथा प्रथाओं का वास्तविक रूप प्रदर्शित करने के कारण सांस्कृतिक इतिहास के भी बहुमूल्य स्रोत हैं। लेखनकला के इतिहास के वे

एकमात्र साधन हैं। जिस पुरातन युग में विचारों को लिपिबद्ध करने के लिए कोई व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक साधन नहीं थे, मृत्तिका, प्रस्तर और धातु आदि को लेखन का आधार बनाया गया। इस दृष्टि से अभिलेख ही हमारी प्रथम पुस्तकें हैं। जिन स्तम्भों पर ये अभिलेख उत्कीर्णित किये गये उनके द्वारा तत्कालीन स्थापत्य की निपुणता के दर्शन होते हैं।

अशोक की महानता के प्रतीक उसके कीर्तिस्तम्भ वस्तुतः भारतीय गौरव के चिरन्तन स्मारक हैं। उसका सारनाथ का सिंहशीर्ष आज भी भारत की राष्ट्रीय गरिमा का प्रतीक बना हुआ है, जिन युगों की जानकारी के लिए कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं हैं, एकमात्र अभिलेखों द्वारा ही उनका अस्तित्व सुरक्षित रह पाया है। ये अभिलेख वस्तुतः अपने युगों के दर्पण हैं, जिनके द्वारा अतीत के सहस्रों वर्षों में घटित भारतीय जन–जीवन की अविकल झाँकियाँ अभिव्यंजित हुई हैं। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों और पुरातात्विक सामग्री के अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अन्य महत्वपूर्ण सामग्री उन विदेशी यात्रियों के भ्रमण–वृत्तान्तों के रूप में भी सुरक्षित हैं, जिन्होंने आँखों देखी परिस्थितियों के आधार पर अपने अनुभवों तथा भारतीयों द्वारा मौखिक रूप में सुरक्षित घटनाओं का विश्लेषण कर उन्हें अपनी लेखनी में उतारा है।

भारत का वैचारिक एवं धार्मिक अभ्युदय

मनीष रत्नपारखी

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति को उज्जीवित करके उसे जन–जीवन को निष्ठाओं के अनुरूप अग्रसर करने में तत्कालीन भक्ति आन्दोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत धर्म रहा है। धर्म का आधार ईश्वर या भगवान है। उसको अनेक रूपों में खोजा और पाया गया है। उसके दो मुख्यरूप है–निर्गुण और सगुण। निर्गुण ईश्वर रूप–नाम से रहित केवल आत्मा की अनुभूति का विषय है, ज्ञानियों द्वारा बोधगम्य है। वह निराकार ब्रह्म है। सगुण ईश्वर नाम–रूप से व्यवहृत है। उसे आँखों से देखा जा सकता है और नामों से पुकारा जा सकता है। उसको पाने के लिए न तो ज्ञान की आवश्यकता है और न पाण्डित्य की अपेक्षा। वह सब के लिए समान रूप से ग्राह्य और आराध्य है। किसी ने उसे स्वामी के रूप में भजा, किसी ने सखा के रूप में और किसी ने प्रिय के रूप में पाया। वह भावग्रहीत है। ऐसे सगुण ईश्वर को पाने के लिए किये गये भाव–प्रयत्न ही भक्ति है। भक्ति की यह भावधारा भारतीय जनता की प्राणंदायिनी शक्ति बनकर समय–समय पर उसको उद्बोधित एवं प्रेरित करती है।

10वीं और 12वीं शती ई. में जबकि समस्त उत्तर भारत और सुदूर–दक्षिण तक महमूद गजनवी और सुबुक्तिगीन गोरी के आक्रमणों से जनता त्रस्त, भयभीत और आत्मरक्षा के लिए आकुल थी, दक्षिण भारत में चोलों के शासन (9वीं से 12वीं श.) में भक्ति की एक नयी धारा का उदय हुआ, जिसके नेता थे नम्मालवार। वे पोइंहे, पूदत्त तथा पे आदि आलवार भजनीकों की उस परम्परा के अन्तिम केन्द्र बिन्दु थे, जिन्होंने सारे दक्षिण में घूम–घूमकर अपने हृदयग्राही भजनों के गायन से जनता को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया हुआ था। दक्षिण में, विशेषतः वर्तमान तमिलनाडु में वैष्णव और शैव मतों के अनुयायी अनेक भक्त गायकों का उदय हुआ, जो वैष्णव तथा शाक्त मन्दिरों में मण्डलियों बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भगवान की लीलाओं को गा–गाकर अपने उपास्य के प्रति अपनी अगाध भक्ति का परिचय देते रहे। उनमें समाज के सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे उनके भजनों का आधार रामायण, महाभारत और पुराण थे। आलवार भक्तों की यह परम्परा लगभग 7वीं शती ई. से आरम्भ हुई थी। उन्होंने अपनी कोमल रससिद्ध प्रेममयी वाणी द्वारा जनता में एक ऐसी सगुण ईश्वर–भक्ति का प्रचार किया, जो अत्यन्त कृपालु और दया का सागर है और जिसके अनुग्रह को केवल प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिण का यह भक्ति आन्दोलन जातीय तथा क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर उठकर वस्तुतः एक ऐसे सर्वजनिक मानवीय धर्म के रूप में विश्रुत हुआ, जिसमें ब्राह्मणधर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड और वर्ण–व्यवस्था के प्रतिबन्ध नहीं थे। उसमें छोटे–बड़े, धनी–निर्धन और अनपढ़–पढ़े लिखों की विषमताएँ नहीं थीं। उन्होंने मनुष्य मात्र को समान दर्जा दिया और सभी को परमेश्वर की दया प्राप्त करने का समान अधिकारी बताया।

सन्त नम्मालवार ने अपने 'तिरुविरुत्तम' नामक ग्रन्थ में दया–अनुकम्पा का गुणगान किया है। उनके बाद उनके शिष्य नाथमुनि ने आलवार सन्तों के भजनों का एक संग्रह संकलित किया। भक्तप्रवर नाथमुनि के बाद उनके पुत्र यामुनाचार्य हुए जो कि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके मत का व्यापक प्रवर्तन उनके अनुज प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य रामानुज ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम परम्पागत धार्मिक रूढ़ियाँ को भी उदार बनाया। उन्होंने मंदिरों की पूजा विधि में नया सुधार किया और यह व्यवस्था दी कि वर्ष में एक दिन मन्दिरों को अन्यजनों के प्रवेश के लिए खोल दिया जाये। रामानुज के इस धार्मिक औदार्य का व्यापक प्रभाव पड़ा। ये सभी सन्त चोल शासकों के समय हुए, जो कि स्वयं भी उदार तथा सहिष्णु थे। दक्षिण भारत में आलवारों का भक्ति–आन्दोलन वस्तुतः परम्परागत वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप था। 10वीं शती के लगभग प्रसिद्ध

ज्ञान–केन्द्र काँची में 'भागवत' की रचना हो जाने के बाद आलवार धर्म का भागवत धर्म में विलय हो गया। इस प्रकार दक्षिण से भक्ति की जो भावधारा बही उसने न केवल संकटग्रस्त भारतीय धर्म के हास को बचाया, अपितु उससे साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। इस नये समन्वित धार्मिक आन्दोलन के प्रभाव से वैष्णव, शाक्त, जैन और बौद्ध धर्मों में जो अलगाव तथा पारस्परिक आलोचना–प्रत्यालोचना का भाव था, वह भी दूर हो गया। मध्ययुगीन भारत में इस नये धार्मिक समन्वय का नेतृत्व किया रामानुजाचार्य (1027–1137 ई.) के विशिष्टाद्वैतवाद ने। वे गृहस्थ से संन्यासी हो गये थे। उनसे पूर्व दक्षिण में आलवार भक्तों ने तमिल भाषा में भक्ति का प्रचार–प्रसार किया था।

रामानुज ने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों से उसको अधिक गहन तथा मान्य बना दिया। इस प्रकार आललवार भक्ति–परम्परा में प्रस्थानत्रयी के सहित तमिल प्रबन्धों को भी उभय वेदान्त के नाम से कहा गया। रामानुज ने महाभारत के पाँचरात्र मत का विकासकर वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और उसे भागवत की कृष्णभक्ति के साथ समन्वित करके सर्व सहज बना दिया। रामानुज का यह विशिष्टाद्वैत वस्तुतः शंकराचार्य के दुःह अद्वैत का सामाजिक सामान्यीकरण था, जिसका दक्षिण से उत्तर की ओर बड़ी त्वरित गति से प्रसार–प्रसार हुआ। शंकर और रामानुज ने जिस धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया उसमें कुछ अन्तर है। ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरक व्याख्या करनेवाले प्रथम विद्वान् यामुनाचार्य हुए और तदनन्दर उसको व्यापकता प्रदान की रामानुजाचार्य ने। उन्होंने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों द्वारा वैष्णव धर्म को परिमण्डित करके उसकी लोकप्रियता को बढ़ाया।

शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है, जिसमें अन्य पदार्थ भी समन्वित हैं और जो उसी के द्वारा बृहत् होते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति, दोनों में विद्यमान है, किन्तु वह उन दोनों से विशिष्ट है। आत्मा (जीव) और प्रकृति इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म का विशिष्टाद्वैत स्वीकार करते हैं। उनका ब्रह्म, जगत् में व्याप्त है और उससे पर भी है। वह अपनी इच्छाशक्ति से जगत् को उत्पन्न करता है। वह उपासना का विषय है और धार्मिक साधना का लक्ष्य भी।

शंकराचार्य की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अतः समस्त जगत् और जागतिक प्रपञ्च सब मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुज जगत् को मिथ्या बताये बिना अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके मत से ब्रह्म एक है और उसमें आनन्दस्वरूप ईश्वर, चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति ये पदार्थ हैं। जो सम्बन्ध आत्मा का शरीर से है वही सम्बन्ध ईश्वर का आत्मा तथा प्रकृति से है। जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, वह ईश्वर से भिन्न नहीं है। रामानुज के मत से आत्मा, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म है। शंकर ने ऐसे ब्रह्म का निरूपण किया है, जो शुद्ध, एकाकी, निर्विकार और अमूर्त है। वह स्वयं निर्गुण है। अतः उसमें मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करने के कोई उपाय नहीं हैं। इसके विपरीत रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को प्रेममय और उसे मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करनेवाला शिवमय और सुन्दरतम् कहा गया है। उसे प्रेम, सेवा और सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है। रामानुज ने धर्मानुशासित जीवन से ही ईश्वरानुग्रह की उपलब्धि बतायी है। उसमें कर्मों के प्रतिफल का प्राविधान होने के कारण सामाजिक जीवन में कर्मनिष्ठा को बल मिला और उससे पारस्परिक अनुराग–प्रेम का भाव उत्पन्न होकर मनुष्य का नैतिक स्तर उन्नत हुआ।

इस प्रकार रामानुज ने शंकर के अद्वैत को लोक सहज बनाकर ऐसे नये धार्मिक पन्थ को जन्म दिया, जिसमें पारस्परिक प्रीति एवं मैत्री की प्रधानता है। उन्होंने शांकर वेदान्त का खण्डन करके सगुण भक्ति को ही मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम एव सर्व सुलभ मार्ग बताया। रामानुज ने शंकराचार्य की भाँति अपने मत के प्रचार के लिए दक्षिण तथा उत्तर भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक स्थलों, ज्ञानकेन्द्रों और नगरों का परिभ्रमण कर तत्कालीन दार्शनिकों से शास्त्रार्थकर विरोधियों को पराजित किया और अपन सर्वग्राह्य लोकधर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने शंकराचार्य की ही भाँति अनेक सर्वधालय, जो तथा ज्ञान–केन्द्रों की स्थापना की और वहाँ सुयोग्य व्यक्तियों का मद साफिर उनके द्वारा सामाजिक विषमताओं तथा धार्मिक संकीर्णताओं को दूरी नियुचित देशव्यापी आन्दोलन चलाया। कहा जाता है कि उन्होंने एक मुस्लिम महिला से विवाह कर दोनों धर्मों में एकता स्थापित करने का सराहनीय कार्य किया।

श्रीरंगपट्टम् के मालीकोट मन्दिर में उन्होंने अन्यजनों को पूजा का अधिकार दिया। इस प्रकार एक आध्यात्मिक नेता के रूप में आचार्य रामानुज ने मध्ययुगीन भारत का सफल नेतृत्व किया। रामानुजाचार्य के बाद उनके शिष्य–प्रशिष्यों ने उनके उदार धार्मिक विचारों का अधिक प्रभावशाली ढंग पर प्रचार–प्रसार किया। उनके प्रमुख अनुयायियों में मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, लोकाचार्य, वेदान्तदेशिक, देवराजाचार्य और वरदाचार्य आदि का नाम उल्लेखनीय है। रामानुज और उनके अनुयायियों द्वारा वैचारिक तथा सामाजिक उदरता के बावजूद मुसलमानों के धर्मद्रोह की भावना में कमी नहीं आयी थी। उनके उत्पात दक्षिण तक प्रचारित हो चुके थे।

उनके द्वारा लूट–पाट ध्वंस–लीला और अत्याचारों की निरन्तर वृद्धि हो रही थी। यह स्थिति सारे भारत में व्याप्त हो गयी थी। अनेक लोगों को प्राणरक्षा के लिए घर छोड़ने को विवश होना पड़ा। ठीक इसी धर्मद्रोह के विनाशकारी समय में दक्षिण भारत में एक नयी ज्योति का आविर्भाव हुआ, जिसका नाम था रामानन्द। उन्होंने तत्कालीन देशव्यापी सामाजिक, परिस्थिति की निकटता और देश की निरन्तर बिगड़ती हुई दशा को देखकर रामानुज द्वारा प्रवर्तित धर्म को अति उदार और सर्वसहज बनाया।

भारतीय वाङ्मय में अश्व का महत्व

रंजन कुमार श्रीवास्तव

घोड़ों (अश्व) को भारतीय वाङ्मय में सदैव ही महत्व प्रदान किया गया है। प्राचीन समय में वीर योद्धा अच्छी नस्ल के घोड़ों से खींचने वाले रथ पर युद्ध करते थे अथवा उनकी पीठ पर सवारी कर संग्राम किया करते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में घोड़ों का एक व्यापक साहित्यिक वर्णन हमे प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में घोड़ों के बहुत से उदहारण सहज ही देखने को मिल जाते है। वैदिक काल से हमे यह ज्ञात होता है कि घोड़े ना सिर्फ मनुष्यो को लिए अपितु देवताओं के पूजन में भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। वेदों में उल्लेखित वाजिमेध यज्ञ में घोड़े का महत्व अच्छे से वर्णित है। भारतीय पुराणों और प्राचीन सभ्यताओं में अश्व (घोड़ा) को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह शक्ति, गति, और वीरता का प्रतीक माना गया है। अश्व का उल्लेख वेदों, महाकाव्यों, और पुराणों सहित अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। ऋग्वेद में अश्व का अत्यधिक महत्व है। अश्व मेधा यज्ञ का उल्लेख इसमें मिलता है, जो देवताओं को प्रसन्न करने और राज्य के कल्याण हेतु किया जाता था। अश्व को सूर्य का प्रतीक माना गया है। ऋग्वेद में अश्व को ऊर्जस्वी और शक्तिमान कहा गया है। अश्व की तुलना सूर्य के रथ से की गई है, जो दिन–रात संसार को गति प्रदान करता है। महाभारत में कृष्ण और अर्जुन के रथ में जुते अश्व (घोड़े) योधाओं की शक्ति का प्रतीक हैं। अर्जुन के रथ के घोड़ों के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखित हैं।

रामायण में भी अश्व को राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ के दौरान महत्वपूर्ण भूमिका में दिखाया गया है। अश्वमेध यज्ञ प्राचीन भारतीय राजाओं द्वारा किया जाने वाला प्रमुख यज्ञ था। इसमें एक अश्व को स्वतंत्र रूप से छोड़ा जाता था और राजा उसकी यात्रा का अनुशरण करते हुए अपनी सीमाओं का विस्तार करते थे। यह यज्ञ राजा की शक्ति और अधिकार को दर्शाने का प्रतीक था। श्रीमद्भागवत पुराण में अश्व को समुद्र मंथन से उत्पन्न चौदह रत्नों में से एक माना गया है। ऐरावत और उच्चैःश्रवा जैसे दिव्य अश्वों का उल्लेख पुराणों में मिलता है। अश्व को देवताओं की दिव्य सवारी के रूप में दर्शाया गया है। अश्व भारतीय कला, मूर्तिकला और चित्रकला में भी व्यापक रूप से चित्रित किया गया है। अश्व को शौर्य, विजय और गतिशीलता का प्रतीक मानते हुए विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों और शास्त्रों में इसका उल्लेख हुआ है। भारतीय लोककथाओं में अद्भुत अश्वों की कहानियाँ प्रचलित हैं, जैसे तेज गति वाले अश्व जो युद्ध में विजय दिलाते हैं। अश्व भारतीय संस्कृति, इतिहास और धर्म का एक महत्वपूर्ण प्रतीक है। इसके महत्व को न केवल पौराणिक कथाओं में बल्कि आधुनिक भारतीय प्रतीकों (जैसे अश्व वाली मुहरें और झंडे) में भी देखा जा सकता है। वेदों में घोड़े का बार–बार उल्लेख मिलता है। विशेष रूप से, ऋग्वेद में कई घुड़सवारी दृश्य हैं, जो अक्सर रथों से जुड़े होते हैं। अश्विन दिव्य जुड़वां हैं जिनका नाम उनकी घुड़सवारी के लिए रखा गया है। हालाँकि आम धारणा यह रही है कि इंडो–आर्यन प्रवासन में सवारों पर बहुत ज्यादा निर्भरता थी, जिन्होंने उपमहाद्वीप में पालतू घोड़े की शुरुआत की होगी, उनके सबसे पुराने ग्रंथ, ऋग्वेद में वास्तविक घुड़सवारी के कुछ स्पष्ट संदर्भ हैं, सबसे स्पष्ट रूप से मरुतों को सवार के रूप में वर्णित किया गया है। भगवान विष्णु के प्रसिद्ध अवतारों में से एक हयग्रीव को घोड़े के सिर के साथ दर्शाया गया है। हयग्रीव को ज्ञान के देवता के रूप में पूजा जाता है। उच्चैःश्रवा की कथा कहती है कि समुद्र मंथन के दौरान समुद्र की गहराई से पहला घोड़ा निकला था। यह सफेद रंग का घोड़ा था और इसके दो पंख थे। इसे उच्चैःश्रवा के नाम से जाना जाता था। कथा आगे कहती है कि हिंदुओं के देवताओं में से एक इंद्र इस पौराणिक घोड़े को अपने दिव्य निवास, स्वर्ग में ले गए। इसके बाद, इंद्र ने घोड़े के पंख काट दिए और उसे मानव जाति को भेंट कर दिया। घोड़े के पंख

इसलिए काटे गए ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि वह धरती (पृथ्वी) पर रहे और इंद्र के सुवर्ग में वापस न जाये। पाश्चात्य विद्वानों की पहले यह धारणा बनी हुई थी कि अश्व के उपयोग मे हड़प्पा–जन अपरिचित थे जबकि ऋग्वैदिक आर्यजनों का प्रिय पशु अश्वथा। पुरातात्विक अन्वेषणों ने पूर्व की मान्यताओं को संदिग्ध कर दिया है। वैदिक आर्यन अश्वों तथा अश्वरथों का प्रचुर प्रयोग करते थे। सरस्वती–सिन्धु सभ्यता के स्थलों तथा हड़प्पा, रोपड़, कालीबंगा, लोथल, सुरकोटदा आदि के उत्खनन से अश्व की हड्डियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। यद्यपि मोहनजोदडो और नौशारों से अश्व के अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं तथापि अश्व की मिट्टी निर्मित आकृतियाँ यहाँ से प्राप्त होती हैं। इससे यह प्रामाणित होता है कि हड़प्पा संस्कृति में अश्व का बहुत उपयोग होता था।

सामान्यतः भारत भूमि पर अश्व की उपस्थिति 2000 ई. पहले नहीं स्वीकार की जाती थी। हड़प्पा सभ्यता के कई स्थलों यथा बनावली राकीगढ़ी और कालीबंगा से युक्त पहियों के प्रबल प्रमाण प्राप्त हुए हैं। किन्तु हड़प्पा सभ्यता में जो पहिये प्राप्त हुए हैं वे ठोस हैं, अरायुक्त नहीं हैं। ऋग्वेद में नेमि का ग्यारह बार उल्लेख किया गया है जिसमें मात्र तीन बार स्पष्टतः अरायुक्त पहिये का अंकन है। अतः वैदिक संस्कृति के जन ठोस तथा अरायुक्त दोनों प्रकार के पहिये प्रयोग करते थे। सरस्वती–सिन्धु सभ्यता के बनावली, राकीगढ़ी एवं कालीबंगा स्थलों से अरायुक्त पहिये तथा ठोस पहियों के अनेक उदाहरण प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण दाइमाबाद के वृषभ रथ में लगे पहिये हैं। घोड़ों के विषय में सर्वोत्कृष्ट वर्णन बारहवीं शती में देखने को मिलता है। बरहवीं शती के चालुक्य नरेश सोमेश्वर के ग्रन्थ मानसोल्लास में घोड़ों को लेकर बड़ी ही विस्तृत रूप से जानकारी दी गई है। साथ ही इसी काल का हरिहर चतुरंग नामक ग्रन्थ जो कि गोदावर मिश्र द्वारा रचित है, वह भी इस विषय पर व्यापक प्रकाश डालते हुए विराजमान है। चालुक्य नरेश सोमेश्वर घोड़ों की प्रतिभा एवं गुणों से भली भाँति परिचित रहे होंगे। उनके ग्रन्थ में यह भाव स्पष्ट है कि सही रूप से सुनियोजित घोड़े, सेना का बड़ा ही महत्वपूर्ण अंग होते है। सोमेश्वर ने घोड़ों को सिर्फ संग्राम और युद्ध तक सीमित ना रखते हुए उन्हें शांति एवं मनोरंजन का स्रोत भी माना है। कालांतर में चौदहवीं शती के जैन रचनाकार हेमसुरी ने अश्व शास्त्र नामक ग्रंथ में घोड़ों के महत्व एवं उनसे जुड़े विज्ञान का व्यापक साहित्यिक वर्णन किया है। भारतीय वाङ्मय में प्राचीन काल से मध्य काल तक घोड़ों की महत्व यथा रूप बनी रही। कालांतर में युद्ध में विभिन्न प्रकार के अस्त्र एवं शस्त्र के आने के उपरांत घोड़ों की महत्ता में भारी कमी देखने के आयी। परंतु उसके बाद भी विश्व के सभी सेनाओं में घोड़ों की एक टुकड़ी देखने को सहज ही मिल जाती है। सही काल तो नहीं बताया जा सकता परन्तु प्राचीन भारतीय ग्रंथ अश्व शास्त्र में नकुल द्वारा शालिहोत्र, सुश्रुत, गर्ग इत्यादि ऋषियों को अश्व शास्त्र का ज्ञाता बताया गया है। शालिहोत्र तो अश्व शास्त्र के प्रथम ज्ञाता बताये गये है। उनका नाम महाभारत में विभिन्न स्थानों पर उल्लेखित है। एक स्थान पर उनको घोड़े जैसी मेधा वाला बताया गया है। भगवान श्रीकृष्ण एवं पाँच पाण्डव अश्व शास्त्र के प्रकांड विद्वान थे। नकुल इसीलिए अश्व शास्त्र के रचयिता माने जाते है और ऐसा श्रुति परम्परा में विख्यात है कि इस ग्रन्थ की रचना में शालिहोत्र ऋषि द्वारा व्यापक सहायता प्रदान की गई थी। इसलिए शालिहोत्र के बाद पारंपरिक रूप से नकुल अश्व शास्त्र के ज्ञाता माने जाते है। यही कारण था कि महाभारत के युद्ध में वह पांडवों के सेना का व्यापक नियंत्रण कर रहे थे। महाभारत के विराट पर्व से नकुल के अश्व प्रेम की व्यापक झलक देखने को मिलती है। विराटनगर में जहाँ विभिन्न पांडव अपना रूप बदल कर रह रहे थे, ऐसे में नकुल घोड़ों की देख रेख में लगे हुए थे।

संभवतः वहीं उन्हें घोड़ों के इस विज्ञान की व्यापक जानकारी प्राप्त हुई होगी। घोड़ों के प्रति इतनी व्यापक जानकारी एवं सहज प्रेम के कारण ही शायद परवर्ती संस्कृत रचनाकारों ने अश्व शास्त्र का लेखक नकुल को माना है। संस्कृत वाङ्मय की यह परम्परा रही है कि लेखक अपना स्वामित्व दिखाने के बजाए किसी देवता, ऋषि, महापुरुष इत्यादि के नाम पर उस ग्रन्थ को आरोपित के देता है जिससे वास्तविक लेखक का नाम कभी भी प्रकाश में नहीं आ पाता। यह कहना कठिन है कि इसके वास्तविक लेखक नकुल थे या नहीं परंतु भाव रूप से उन्हें है इसका लेखक मान लिया जाता है। सोमेश्वर के अनुसार घोड़ों के प्रकार मापदंड भिन्न है। उनके अनुसार घोड़े उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम गुण के ही होते है। इसके साथ ही घोड़ों के बालों की संरचना यानी आवर्त के विषय में भी व्यापक जानकारी प्राप्त होती है। नकुल के अनुसार यह बाल घास के समान कोमल घोड़ों के शरीर पर होते है। नकुल के अनुसार घोड़ों के बालों की संरचना के आठ प्रकार हैः– आवर्त, सूक्ति, संघट, मुकुल, अवलिधक, सत्पदी, पादुकर्ध एवं पादुक। घोड़ों के वर्ण को लेकर भी प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विस्तृत वर्णन किया गया है। श्वेत वर्ण के घोड़ों को विप्र, लाल वर्ण के घोड़ों को क्षत्रिय, पीत वर्ण के घोड़ों को वैश्य एवं श्याम वर्ण के घोड़ों को शूद्र की संज्ञा दी गयी है। इसके साथ ही अन्य वर्णों के भी नाम वर्णित है जैसे कि सन्नध, संविती, नागजातिय, ज्योतिष्मान, पंच भद्रक इत्यादि। भोज के अनुसार घोड़ों के वर्ण के निम्न प्रकार बताये गए है :– चक्रवाक, श्यामकरण, अष्टमंगल, कल्याणपंचक एवं यमरूप। जयदत्त के अनुसार घोड़े के गंध से शकुन एवं अपशकुन मानकों का निर्णय किया जाता था। अच्छा घोड़ा वह है जिसकी गंध मन को शांति प्रदान करती हो और बुरा घोड़ा वह है जिसकी गंध मन को अशांत कर दे। नकुल के अनुसार कमल, चंदन, मधु इत्यादि के सम्यक गंध वाले घोड़े अच्छे तथा कीट इत्यादि के सम्यक गंध वाले घोड़े बुरे माने गए है। नकुल के अनुसार अपनी पद चाप को ऊंचा उठा कर गज, व्याघ्र, मयूर, हंस, हिरण, बंदर इत्यादि की चाल वाले घोड़े अच्छे माने गए है।

पुस्तक चर्चा

गीता ही कर्म, कर्तव्य और ज्ञान

राजेश्वर त्रिवेदी

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा पाँच विभिन्न गीताओं (श्रीशिव, श्रीराम, श्रीगणेश, श्रीदेवी व श्रीयम) का प्रकाशन किया गया। गीता जिसे श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से भी जाना जाता है, यह न केवल भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी इसका अद्वितीय महत्व है। गीता को विश्व की सबसे प्राचीन जीवित संस्कृति तथा भारत की महान ध ार्मिक सभ्यता के प्रमुख साहित्यिक प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है। यह एक आध्यात्मिक, दार्शनिक और नैतिक ग्रंथ है, जो मनुष्य को जीवन के गहरे प्रश्नों का उत्तर और जीवन जीने की सही दिशा प्रदान करता है। गीता महाभारत के भीष्मपर्व का एक भाग है और भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुए संवाद का विवरण प्रस्तुत करती है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को जीवन, धर्म, कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान के बारे में शिक्षाएँ देते हैं। वैश्विक दृष्टिकोण से, गीता का महत्व केवल धार्मिक ही नहीं, बल्कि दार्शनिक और आध्यात्मिक भी है। इसे एक सार्वभौमिक ग्रंथ माना जाता है जिसने भारत और विश्वभर के विचारकों, लेखकों और दार्शनिकों को प्रभावित किया है। ये ग्रंथ भी मानव जीवन की नैतिकता, उद्देश्य और परम सत्य की खोज की बात करते हैं। गीता का मुख्य सन्देश कर्तव्य पालन और आत्म–अनुशासन पर आधारित है, जो इसे एक सार्वभौमिक महत्व का ग्रंथ बनाता है।

गीता का दुनिया भर की छह सौ से अधिक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और इसे दुनिया भर में व्यापक रूप से पढ़ा और सम्मानित किया जाता है। पश्चिमी विद्वानों जैसे हेन्रीह 'डेविड थोरो', 'एल्डस हक्सले' और 'हरमन हेस्स' ने भी गीता से प्रेरणा ली है। पाश्चात्य जगत में भारतीय साहित्य का कोई भी ग्रंथ इतना अधिक उद्धारित नहीं होता जितना की श्रीमद्भगवद् गीता। यद्यपि श्रीमद्भगवद् गीता का व्यापक प्रकाशन और पठन होता रहा है, किन्तु मूलतः यह संस्कृत महाकाव्य महाभारत की एक उपकथा के रूप में प्राप्त है। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। इसी युग के प्रारम्भ में आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को श्रीमद्भगवद् गीता का उपदेश दिया था। उनका यह संवाद जो मानव इतिहास के सबसे महान दार्शनिक तथा धार्मिक संवादों में से एक है, जो उस महायुद्ध के आरंभ पूर्व हुआ था। भारतीय परंपरा में 'गीता' केवल एक ग्रंथ का नाम नहीं है, बल्कि यह विभिन्न समय और परिस्थितियों में दिये गये उपदेशों का संग्रह है। ये गीता अलग–अलग सन्दर्भों में अद्वैत, भक्ति, धर्म और योग के मार्ग का ज्ञान देती हैं। इनमें से श्रीमद्भगवद् गीता सबसे प्रसिद्ध और व्यापक रूप से पढ़ी और समझी जाने वाली गीता है। विश्वविख्यात श्रीमद्भगवद् गीता के अतिरिक्त अब तक अष्टावक्र, राम, शिव, गणेश, यम, देवी, दत्तात्रेय, नारद, हंस व पाराशर सहित पचास से अधिक ऐसी गीताओं की खोज की जा चुकी है, जो सनातन परम्परा में विभिन्न युगों और कालखंडों में ईश्वरीय शक्तियों, अवतारों, देवी–देवताओं, ऋषियों और अन्य विभूतियों द्वारा दी गयी हैं। इन गीताओं में ब्रह्मांड के रहस्यों, आध्यात्मिक ज्ञान, धार्मिक, नैतिक उपदेश और मानव जीवन की दिशा–निर्देशित करने वाले सिद्धान्त सम्मिलित हैं। प्रत्येक गीता की कुछ प्रमुख विशेषताएँ होती हैं, जिनमें वेदों और पुराणों से बहुत बड़ी सीमा तक भिन्नता हो सकती है। यदि इन गीताओं का उनकी विशेषताओं तथा महत्व के आधार पर कोई वर्गीकरण किया जाये तो उनको अलौकिक, वैदिक, पौराणिक, आध्यात्मिक, तांत्रिक तथा विविध गीताओं की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। प्रत्येक गीता का सम्बन्ध किसी विशेष देश–काल और सन्दर्भ से ही होता है, जो उसके महत्व को बढ़ाता है। चाहे किसी भी गीता की बात की जाये, अनिवार्य रूप से ये सभी विशिष्ट ज्ञान और उपदेश का स्त्रोत हैं। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में अर्जुन को कर्म व ज्ञानयोग का उपदेश देने से बहुत पहले श्रीकृष्ण ने मालवा की महान धारा के पुरातन नगर उज्जैन में गुरु सांदीपनी के आश्रम में 64 कलाओं व 14 विद्याओं का अध्ययन किया था। संभवतः यहाँ से ग्रहण की शिक्षा ने कालांतर में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को अलग ढंग से उल्लेखित किया।

श्रीकृष्ण के जीवन में मथुरा, गोकुल, द्वारका व कुरुक्षेत्र के साथ ही उज्जैन का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा। पुण्य सलिला शिप्रा तट का यह नगर पुराण व इतिहास के अंतरतम में बसा है। अनादि काल से समकाल तक उज्जैन हिन्दू सनातन जन आस्था का महत्वपूर्ण केंद्र है। जो शिव रूपी महाकाल और ज्ञान रूपी श्रीकृष्ण की पावन धरा है। श्रीकृष्ण की महान उपस्थिति को मालवा और मध्य प्रदेश में स्थायी बनाने के उद्देश्य मध्य प्रदेश शासन द्वारा विगत दिनों श्रीकृष्ण पाथेय योजना की घोषणा श्रीकृष्ण के प्रति भारतीय सनातनी आस्था और अनुराग का प्रतिफल है। आज भी उज्जैन में संदीपनि आश्रम एक ऐतिहासिक और धार्मिक स्थल के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्थान श्रीकृष्ण के शैक्षिक जीवन और उनके अद्वितीय व्यक्तित्व को दर्शाने वाला एक महत्वपूर्ण केंद्र है। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कर्म, भक्ति, ज्ञान, और ध्यान के मार्ग का उपदेश देने की स्मृति में भारत में प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष माह (अगहन मास) की शुक्ल पक्ष की एकादशी को गीता

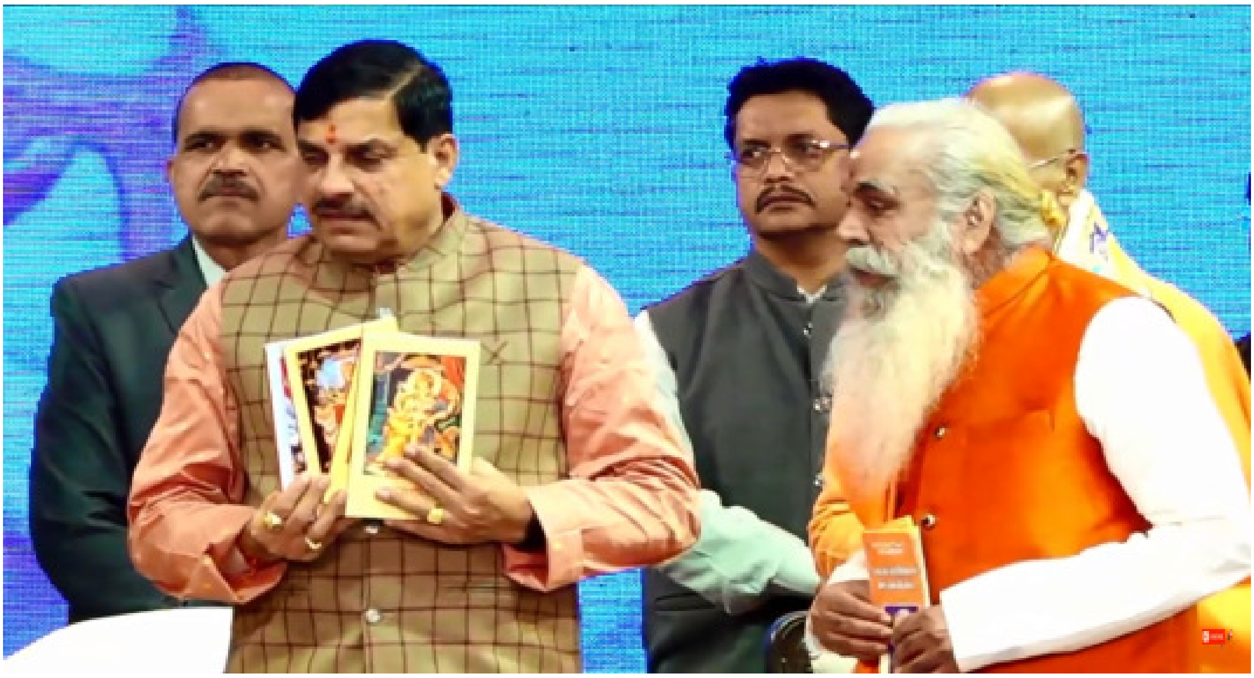

जयंती मनायी जाती है। विगत दिनों श्रीकृष्ण की शिक्षास्थली रही उज्जैन में गीता जयंती के अवसर पर मध्य प्रदेश शासन द्वारा अंतर्राष्ट्रीय गीता महोत्सव का आयोजन किया गया। इस अवसर पर महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित पाँच महत्वपूर्ण गीताओं (श्रीशिव, श्रीराम, श्रीगणेश, श्रीदेवी व श्रीयम) का माननीय मुख्यमंत्री डॉ. मोहन यादव द्वारा लोकार्पित की गयी। श्रीशिव, श्रीराम, श्रीगणेश, श्रीदेवी व श्रीयम के रूप में हिंदू धर्म के प्रमुख देवताओं का गीता के संदर्भ में विश्लेषण करना, उनके प्रतीकों और शिक्षाओं को समझने में मदद करती है। भगवान राम धर्म, आदर्श और कर्तव्य के प्रतीक हैं। उनका जीवन मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में संपूर्ण गीता की निष्काम कर्म योग की व्याख्या को प्रत्यक्ष दर्शाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में कर्म योग की जो शिक्षा दी है, वह राम के जीवन के आदर्शों में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। राम ने व्यक्तिगत सुख और इच्छाओं को त्याग कर धर्म और कर्तव्य का पालन किया।

शिव त्याग, ध्यान और शक्ति के आदर्श हैं। वे समत्व योग के प्रतीक हैं, जहाँ राग और द्वेष से मुक्त होकर साधना की जाती है। गीता के अध्याय 6 (ध्यान योग) में, ध्यान और आत्मा से जुड़ने की जो प्रक्रिया समझायी गयी है, वह शिव के तपस्वी स्वरूप से जुड़ती है। गीता का संदेश शिव के धैर्य और आत्म–साक्षात्कार की ओर इशारा करता है। गणेश ज्ञान, बाधाओं को दूर करने और शुभारंभ के प्रतीक हैं। गीता के प्रारंभिक अध्यायों में अर्जुन की शंकाओं को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण की शिक्षा गणेश के विघ्नहर्ता रूप की झलक देती है। गीता का हर संदेश बुद्धि और विवेक को जागृत करने की प्रेरणा देता है, जो गणेश जी के गुणों के समान है। देवी शक्ति, साहस और संरक्षण का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे प्रत्येक भक्त को बुराई से लड़ने और धर्म का पालन करने की शक्ति देती हैं। गीता का अध्याय 11, जहाँ श्रीकृष्ण ने विराट रूप दिखाया, शक्ति और पराक्रम का संदेश देता है। देवी की भूमिका कर्म और धर्म की स्थापना में महत्वपूर्ण है। गीता का संदेश हमें अपने भीतर की शक्ति और संतुलन को पहचानने का प्रेरणादायक है। यम मृत्यु और धर्म के पालन के प्रतीक हैं। वे कर्म और उसके फल के आधार पर निर्णय करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने बार–बार कर्म और उसके परिणामों के सिद्धांत को स्पष्ट किया है। यम धर्मराज की भूमिका गीता के अध्याय 2 में कर्मफल के प्रति अनासक्ति के सिद्धांत से मेल खाती है। राम, शिव, गणेश, देवी और यम सभी गीता के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करते हैं। राम कर्म योग और धर्म का आदर्श हैं। शिव ध्यान और आत्मज्ञान के प्रतीक हैं। गणेश बुद्धि और विवेक को प्रोत्साहित करते हैं। देवी शक्ति और साहस प्रदान करती हैं यम धर्म और कर्मफल के नियमों का प्रतिनिधित्व करते हैं। गीता का संदेश इन्हीं दिव्य गुणों का समावेश है, जो मानव को आत्मा, धर्म, और कर्तव्य के प्रति जागरूक करते हैं। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा पाँच विभिन्न गीता स्वरूपों का प्रकाशन न केवल भारतीय संस्कृति और दर्शन की विविधताओं को सामने लाता है, बल्कि श्रीमद्भगवद् गीता के विभिन्न पाठों और उनकी व्याख्याओं को भी व्यापक रूप से उपलब्ध कराता है। ऐसे प्रकाशन अध्येताओं, साधकों और सामान्य पाठकों को गीता के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने और आत्मसात करने का अवसर प्रदान करते हैं। गीता के इन विभिन्न स्वरूपों की इस श्रृंखला संपादन संपादन श्रीराम तिवारी ने किया है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोनः 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com